श्रीमद्भगवद्गीता और कर्मयोग

डा0 ऋचा मुक्ता
असि0 प्रोफे0, संस्कृत विभाग
ए0पी0 सेन मेमोरियल गर्ल्स डिग्री कालेज चारबाग, लखनऊ
Email :richa.mukta@gmail.com

सारांश

दार्शनिक चिन्तन मानव मूल की प्रवृत्ति है। मानव के मन में स्वयं को एवं बाहय–जगत को जानने की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई जीवन दृष्टि, जीवन मूल्य या 'दर्शन' अवश्य होता है। भारतीय परम्परानुसार वेद नित्य, अपौरूषेय तथा अक्षय ज्ञान के भण्डार हैं। भारतीय दर्शन में कर्मसिद्धान्त का विशेष महत्व है। यह सिद्धान्त इस शाश्वत नियम पर आधारित है कि हम जो भी सत् असत् कर्म करते हैं, उसका परिणाम हमें अवश्य भोगना पड़ता है। सत् कर्मों का फल शुभ तथा असत् कर्मों का परिणाम अनिवार्यतः अशुभ होता है। कर्मों का फल कभी तो इसी जन्म में और कभी जन्मान्तर में प्राप्त होता है। इसी कर्मफल भोग के कारण आत्मा अनेक जन्म लेती है। इस कर्मवाद का बीज ऋग्वेद की 'ऋत' की धारणा में प्राप्त होता है। जिस नियम के कारण दिन–रात का चक्र चलता है, सूर्य–चन्द्र और नक्षत्र गतिमान रहते हैं, प्रकृति का वही नियम 'ऋत' है।

प्रस्तावना

'ऋत' की धारणा में विश्व की व्यवस्था के साथ ही नैतिक व्यवस्था भी सम्मिलित है। सम्पूर्ण विश्व इसी ऋत से संचालित और इसी पर प्रतिष्ठित है।[1]

उपनिषदों में कर्मवाद के विषय में स्पष्टतः कहा गया है कि हम जैसा बीज बोते हैं वैसा ही फल काटते हैं। ईषोपनिषद् के अनुसार –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।[2]

बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार शुभ कर्म मनुष्य को धार्मिक तथा अशुभ कर्म पापयुक्त बनाते हैं। सत्कर्मों के अनुष्ठान से व्यक्ति अपना अगला जन्म उत्कृष्ट बना सकता है और आत्मतत्व के ज्ञान से वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त भी हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्त दर्शन का सार है। श्रीमद्भगवद्गीता पर विचार विमर्श करने से पूर्व महाभारत में अंकित उन घटनाओं की कुछ चर्चा करना उचित होगा जो गीता की रूप रेखा बनाती है। देवपुत्र अर्जुन अपने चार भाईयों व चचेरे कौरवों के साथ राजा धृतराष्ट्र के दरबार

में पले। यद्यपि नेत्रहीन होने के कारण धृतराष्ट्र को सिंहासन पर बैठने का अधिकार न था, फिर भी उसने राज्य पर बलपूर्वक आधिपत्य जमा लिया था। इतने से ही सन्तुश्ट न होकर वृद्ध राजा ने कौरवों और पाण्डवों के साथ समान व्यवहार भी नहीं किया और सदैव कौरवों का ही पक्ष लिया। दोनों पक्षों के बीच मन मुटाव बढ़ता गया और दोनों के बीच राज्य का बँटवारा करने के एक संक्षिप्त प्रयत्न के बाद पाण्डवों को धोखे से जुए में हरा दिया गया और उन्हें बारह वर्ष का वनवास तत्पश्चात् तेरहवें वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार करना पड़ा। इस अवधि के बाद हितैषी पर अशक्त राजा धृतराष्ट्र अपने दम्भी पुत्र दुर्योधन को पाण्डवों का हिस्सा उन्हें वापस करने के लिए मना न सका। धृतराष्ट्र के सारथी संजय, परामर्शदाता भीष्म पितामह व स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने शान्ति स्थापित करने के यत्न किए परन्तु युद्ध टल न सका और उभयपक्षों के सैन्य दल कुरूक्षेत्र में आमने–सामने डट गए।[3] यहीं से गीता का आरम्भ होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग का विषद रूप से प्रतिपादन हुआ है। भारतीय दर्शन में कर्मबन्धन का कारण माना गया है। किन्तु कर्मयोग में कर्म के उस स्वरूप का निरूपण किया गया है जो बन्धन का कारण नहीं होता।

योग का अर्थ है समत्व की प्राप्ति (समत्वं योग उच्यते)। सिद्धि और असिद्धि, सफलता और विफलता में समभाव रखना समत्व कहलाता है। योग का एक अन्य अर्थ भी है वह है कर्मों का कुशलता से संपादन करना (योगः कर्मसु कौशलम्) इसका अर्थ है, इस प्रकार कर्म करना कि वह कर्मबन्धन न उत्पन्न कर सके। अब प्रश्न यह है कि कौन से कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं और कौन से नहीं। गीता के अनुसार जो कर्म निष्काम भाव से ईश्वर के लिए किए जाते हैं, वे बन्धन नहीं उत्पन्न करते। वे मोक्षरूप परम पद की प्राप्ति में सहायक होते है।

अपने दैवी स्रोत को छोड़कर जीवात्मा व्यक्तित्व की आसक्ति में फँसकर परस्पर विरोधी शक्तियों से पूर्ण इस संसार में रहने लगता है। प्रारम्भ में संघर्ष प्रच्छन्न रूप से चलता है, क्योंकि दैवी व आसुरिक शक्तियों का भेद पूरी तरह व्यक्त नहीं हुआ है पर धीरे–2 वह बढ़ता चला जाता है। इन दो शक्तियों के प्रभाव–क्षेत्र को अलग–अलग बाँट देने की चेष्टाएं विफल हो जाती हैं और यह ठीक भी है क्योंकि जहाँ केवल सर्वव्यापी एकत्व हो वहाँ बंटवारा कैसा? और इसलिए क्रिया व प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य है। इस अवधि में जो वास्तव में कई दीर्घ युगों तक चलने वाली होती है, जीव एक योनि से दूसरी योनि में भटकता है, कर्म करता है और उनका फल भोगता है। धीरे–2 अपने विविध अनुभवों द्वारा ज्ञानार्जन करता है। यद्यपि इस प्रकार जीव असंख्य दुःख व भय झेलता है, फिर भी अपने स्वामी परमात्मन् की कृपा से वह सम्पूर्ण विनाश से बच जाता है।[4]

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भुत समन्वय किया गया है। गीता कर्मयोग प्रधान ग्रन्थ है। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को 'कर्मयोग' का उपदेश देने का उद्देश्य अर्जुन को कर्मपथ पर लाना था। शोक एवं मोह के कारण अर्जुन कर्ममार्ग से हट रहे थे, किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्मयोग का पाठ पढ़ाया। गीता कर्म का नहीं बल्कि कर्म में फलासक्ति का निषेध करती है –

कर्मष्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सडोऽस्त्वकर्मणि।।[5]

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से संसार को कर्मयोग का पाठ पढ़ाया है, कर्ममार्ग बड़ा ही कठिन है।''गहना कर्मणो गतिः'। कर्म किए बिना मनुष्य नहीं रह सकता है। कर्मयोगियों का सिद्धान्त इस बात से प्रारम्भ होता है कि कर्म मात्र की निवृत्ति एकदम असंभव है। बाह्य कर्मों से बलपूर्वक अलग रहने पर भी आंतरिक कर्म बेरोक–टोक होते रहते हैं और इतना ही नहीं, बाह्य अकर्मण्यता के कारण वे और अधिक उच्छश्रंखल हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म अपरिहार्य तो है ही, बंधन में डालने वाला भी है। सृष्टि क्रम में जीव की अच्छी या बुरी अपनी जो भी स्थिति होती है उससे बांधकर कर्म उसे पूर्ण के साथ समागम के द्वारा मिलने वाली उस आत्मअतीतता से वंचित कर देता है जो कि परम लक्ष्य है।[6] कर्मकाण्ड में निर्धारित उस विधान का कठोरता से पालन किया जाये जो कि हिन्दू आचार रीति के अनुसार ब्राहमण के जीवन और दिनचर्या को पूरी तरह विनियमित करता था साथ ही योगी को ये कर्मशास्त्रों में परिलक्षित सांसारिक वैभव स्वर्ग प्राप्ति आदि फलों की कामना न रखते हुए करने होते थे। इस तरह कर्मयोगी कर्म की अपरिहार्यता और इनती ही निश्चित उसकी बंधन शक्ति द्वारा उत्पन्न निकट स्थिति से बच निकलने की आशा करते थे।

श्रीकृष्ण कर्म को क्षुद्र व अधम रूप में न मानकर कर्मयोगियों के समान ही कर्म को यज्ञ मानते हैं – किन्तु ब्राहमणों के औपचारिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों से नितान्त भिन्न। श्रीमद्भगवद्गीता में योग शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और योग में ध्यान, ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय है।[7] प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमोगुण सभी प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् कर्म से बधा हुआ है। कर्म दो प्रकार के हैं– आसक्त कर्म और अनासक्त कर्म। प्रायः मनुष्य आसक्ति के कारण ही कोई कर्म करता है। कर्मयोगी लाभ–हानि की भावना से प्रेरित नहीं होता। ऐसा कर्म निष्काम कर्म या अनासक्त कर्म है। श्रीकृष्ण इसी कर्म का उपदेश देते हैं –

सुख–दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्यसि।।[8]

कर्मयोगी के लिए स्वकर्म ही स्वधर्म है। गीता में सभी वर्णों के कर्म निश्चित हैं। ये निश्चित कर्म ही उनके स्वकर्म कहे जाते हैं और यही स्वधर्म है। गीता में निष्काम कर्म का तात्पर्य संसार के सभी कर्मों में ममता और आसक्ति का त्याग है। अतः निष्काम कर्म नैष्कर्म्य नहीं (कर्मों का त्याग नहीं किया जाता, बल्कि कर्मफल का त्याग किया जाता है) निष्काम कर्म ईश्वरार्थ कर्म है। ईश्वरार्थ कर्म ही अनासक्त कर्म है। ऐसा पुरूष कर्म करता हुआ भी पाप में लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल से अछूता रहता है।

ब्रह्मश्याधारा कर्माणि सडं. त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पदमपत्रमिवाम्भसा।।[9]

कर्म के व्यावहारिक महत्व को बताने के बाद श्रीकृष्ण उसके नैतिक और सार्वभौमिक महत्व पर आते है जिससे प्रव्यक्त जगत बनता है और जो यह दर्शाता है कि कर्म किस प्रकार

अविनाशी पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है, अतः कोई भी एक क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है।[10] दूसरी ओर यदि कोई निश्ठावान व्यक्ति अपने मन के द्वारा कर्मेन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करता है और बिना किसी आसक्ति के कर्मयोग प्रारम्भ करता है, तो वह अति उत्कृष्ट है।[11]

नियतं कुरू कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।[12]

श्रीकृष्ण यह नहीं चाहते थे कि अर्जुन मिथ्याचारी बने, अपितु वे चाहते थे कि अर्जुन क्षत्रियों के लिए निर्दिष्ट धर्म का पालन करे इसीलिए उन्होंने कहा कि अपना नियत कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर निर्वाह भी नहीं हो सकता। श्री विष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत में बन्धन उत्पन्न होता है। अतः हे कुन्तीपुत्र! उनकी प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम बन्धन से सदा मुक्त रहोगे।

गीता के अनुसार कर्मों से सन्यास लेने अथवा उनका परित्याग करने की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मों का केवल परित्याग कर देने से मनुष्य सिद्धि अथवा परमपद प्राप्त नहीं करता है। मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रहता। सभी अज्ञानी जीव प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से नियन्त्रित होकर दूसरों द्वारा वशीभूत होकर, कर्मों में प्रवृत्त किए जाते हैं। मनुष्य यदि बाह्य दृष्टि से कर्म न भी करे और विषयों में लिप्त न हो तो भी वह उनका मन से चिन्तन करता है। इस प्रकार का मनुष्य मूढ़ और मिथ्या आचरण करने वाला कहा गया है। कर्म करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। इसके बिना शरीर का निर्वाह भी संभव नहीं है –

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं बन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङःसमाचर।।[13]

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि तीनों लोकों में उनका कर्तव्य नहीं है, उन्हें कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी रहती, फिर भी वे कर्म में संलग्न रहते हैं–

न मे पार्थास्ति कर्तव्य त्रिषु लोकेषु किचन।
नानवाप्तभवाप्तव्यं वर्त एवं च कर्मणि।।[14]

क्योंकि यदि मैं नियम कर्मों को सावधानी पूर्वक न करूँ तो हे पार्थ! यह निश्चित है कि मनुष्य मेरे पथ का अनुगमन करेंगे –

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतान्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।[15]

यदि मैं कर्म न करूँ तो मनुष्य भी मेरे बताए मार्ग के प्रति निष्क्रिय हो जाएंगे इससे लोक स्थिति के लिए किए जाने वाले कर्मों का अभाव हो जाएगा जिसके फलस्वरूप सारी प्रजा नष्ट हो जाएगी। इसलिए तू शास्त्र विहित कर्तव्य कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना

श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा–

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

dqokZ}kalalDrk Dr f' pdh"kZ[kkl lage AA[16]

हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी जन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्ति रहित विद्वान भी लोक संग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करें। इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को भी, जो प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो चुका है, सदा कर्म करते रहना चाहिए। अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार फलप्राप्ति की आकांक्षा से कर्म करता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी को लोकसंग्रह के लिए आसक्ति रहित होकर कर्म करना चाहिए इस प्रकार आत्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही गीता के अनुसार वास्तविक रूप से कर्मयोगी हो सकता है –

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरूषः।।[17]

कर्मफल में आसक्त हुए बिना मनुष्य को अपना कर्तव्य समझ कर निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से उसे परमब्रहम की प्राप्ति होती है। न तो कर्म से विमुख होकर कर्मफल से मुक्ति पा सकता है और न केवल सन्यासी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है क्योंकि भौतिकवादी मनुष्यों के हृदयों को पवित्र करने के लिए जिन कर्मों का विधान किया गया है, उसमें मनुष्य कर्म से विरत होने से मनुष्य नारायण के समान हो जाता है।

भगवद्गीता में हमें इस बात का बारम्बार उपदेश मिलता है कि हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। कर्मयोग का अर्थ अपने कर्म को पूरी एकाग्रता के साथ पूर्णरूप से करना है और कोई भी कार्य पूर्णता के साथ तभी सम्भव है जब उससे कुछ पाने की इच्छा न हो। उसका क्या परिणाम होग इस ओर मन न ले जाकर पूरी एकाग्रता के साथ किया जाए। जब मनुष्य बिना आसक्त हुए अपना कर्म करता है तो उसकी सम्पूर्ण शक्तियॉ केन्द्रीभूत होती हैं और एक आध्यात्मिक ऊर्जा उत्पन्न करती है इस प्रकार निष्काम कर्म के द्वारा मनुष्य परमात्मा तक पहुॅच सकता है। वह संसार के बन्धन से मुक्त होकर जन्म और मरण के चक्र को पार करके परमात्मा में विलीन हो जाता है। निष्काम कर्म गीता की देन है –

स्वे स्वे कर्मण्याभिरतः संसिद्धि लभते नरः।18

निष्कर्षतः गीता 'कर्तव्य, कर्तव्य के लिए' की शिक्षा देती है। स्वकर्म ही स्वधर्म है। मानव–जीवन में कर्म का अत्यधिक महत्व है। जहाँ शुभ कर्म होते हैं वहाँ सुख होता है, कर्म ही सुखप्राप्ति का हेतु है। और जहाँ अशुभ कर्म होता है वहाँ दुःख ही बना रहता है। इस प्रकार अकर्मण्यता दुःख का मूल हेतु होता है। पुरूषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि भी कर्म द्वारा ही सम्भव होती है। इस प्रकार कर्मफल तथा आसक्ति से रहित होकर ही ईश्वर के लिए कर्म करना वास्तविक रूप से कर्मयोग है और इस का अनुसरण करने से मुनष्य को अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 भारतीय दर्शन की रूपरेखा–पृ0 71
2 ईशावास्योयनिसद्– 2
3 भगवद्गीता का योग
4 भगवद्गीता का योग–पृ0 3
5 श्रीमद्भगवद्गीता –2/47
6 श्रीमद्भगवद्गीता का योग–पृ0 22
7 श्रीमद्भगवद्गीता–3/3–4
8 श्रीमद्भगवद्गीता–2/38
9 श्रीमद्भगवद्गीता– 5/10
10 श्रीमद्भगवद्गीता–3/5
11 श्रीमद्भगवद्गीता–3/7
12 श्रीमद्भगवद्गीता–3/8
13 श्रीमद्भगवद्गीता– 3/9
14 श्रीमद्भगवद्गीता–3/22
15 श्रीमद्भगवद्गीता–3/23
16 श्रीमद्भगवद्गीता–3/25
17 श्रीमद्भगवद्गीता–3/19
18 श्रीमद्भगवद्गीता–18/45